यहाँ-वहाँ हर कहीं

अंजना वर्मा

यहाँ-वहाँ हर कहीं

उस दिन शाम को पाँच बजे ही संजीव ऑफिस से वापस आ गया था। लिफ्ट से ऊपर जाकर उसने अपार्टमेंट की घंटी बजाई तो रोज की तरह दरवाजा नहीं खुला। वह बाहर खड़ा इंतजार करता रहा। फिर दूसरी और तीसरी बार भी बजाई तो दरवाजा वैसे ही बंद रहा। तब उसे लगा कि उसके पापा कहीं चले गए हैं। यदि वे भीतर होते तो फौरन

दरवाजा खोलते। लेकिन उन्हें मालूम भी तो नहीं था कि इस समय वह आ जाएगा, वर्ना वे बाहर नहीं जाते।

उसने अपने पिता रवींद्र बाबू को कॉल किया, "हलो पापा, कहाँ हैं आप?" रवींद्र बाबू नुक्कड़ वाली स्नैक्स की दुकान में खड़े समोसे खा रहे थे। उन्होंने सोचा कि संजीव ऑफिस से फोन कर रहा है। इसलिए इत्मीनान से बोले, "संजीव? कहो किसलिए फोन किया?"

यदि वे जानते कि संजीव बाहर खड़ा है तो इस तरह शांति से बात न करते। उनकी आवाज में घबराहट घुली होती... घर पहुँचने के लिए बेताब हो जाते।

संजीव ने कहा, "आप कहाँ हैं?"

"मैं इस गली की स्नैक्स वाली दुकान में समोसे खा रहा हूँ। मैं तुम दोनों के लिए भी लेता आऊँगा।" उनकी आवाज में वही शांति बरकरार थी।

संजीव ने कहा, "अच्छा, लेते आइएगा। पर अभी आइए। मैं घर के बाहर खड़ा हूँ।"

यह सुनते ही वे बेचैन हो गए। बोले, "ओ! आ गए क्या? अच्छा, मैं आ रहा हूँ तुरंत।"

उनकी आवाज में एक खुशी घुल गई थी। संजीव ऑफिस से आ गया है यह सुनकर उन्हें बड़ा अच्छा लगा था। बच्चों का घर लौटना उन्हें अपरिमित खुशी दे जाता था, क्योंकि उनके आसपास पसरा हुआ सन्नाटा दूर हो जाता था। जल्दी-जल्दी मुँह चलाकर वे मुँह में भरे समोसे को निगलने लगे। समोसे खाते हुए दुकानदार से बोले, "अच्छा, चार समोसे और पैक कर दो।"

यह कहकर वे एक हाथ से पेपर प्लेट थामे हुए दूसरे हाथ से अपनी जेब में बटुआ टटोलने लगे। पर बटुआ तो लेकर चले ही नहीं थे तो मिलता कैसे? टटोलते-टटोलते यह महसूस हुआ। तब तक हाथों में कुछ खुदरे नोट आ गए थे। उन्हें उँगलियों में थामकर दुकानदार की ओर बढ़ाते हुए बोले, "लो भाई, पैसे ले लो। मैं बटुआ तो घर पर ही भूल गया।"

दुकानदार ने नोट थामते हुए कहा, "कोई बात नहीं थी। पैसे फिर मिल जाते।" रवींद्र बाबू लगभग हर रोज इसी स्नैक्स की दुकान पर आते और कुछ-कुछ खाते। इसी से दुकानदार उन्हें पहचानता था। शाम के चार बजते कि खाने से अधिक बाहर निकलने की इच्छा जोर मारती। बाहर आकर लोगों को चलते-फिरते, आते-जाते देखते तो उन्हें

लगता कि उनकी नसों में भी खून दौड़ रहा हैं। तब अपने हिस्से के अकेलेपन में निष्क्रिय हुआ दिमाग पूरी तरह सक्रिय हो उठता, तरह-तरह के ख्याल दिल की धड़कनों के साथ गुँथ जाते और वे पूरी जिजीविषा से भर उठते।

रवींद्र बाबू ने पेपर प्लेट डस्टबिन के हवाले किया। पेपर नैपकिन से हाथ पोंछते हुए समोसों का पैकेट उठाया और चल दिए। चार कदम चले होंगे तो मुँह में बसे स्वाद ने याद दिलाया कि वे पानी पीना तो भूल ही गए। सोचा कि चलो, कोई बात नहीं, घर जाकर ही पी लेंगे। अभी बेचारा संजीव घर के बाहर खड़ा होगा थका-माँदा। यह स्थिति बड़ी खराब होती है कि घर पहुँचो और घर में ताला बंद। पास में चाभी नहीं।

संजीव ने एक चाभी सुरुचि को दे रखी थी और दूसरी वह खुद रखता था। सुरुचि ऑफिस से उसके पहले ही घर पहुँच जाती थी। अतः चाभी उसके पास रहनी चाहिए थी कि उसे इंतजार न करना पड़े। अभी पापा के आने पर उसने अपने वाली चाभी पापा को दे दी।

रवींद्र बाबू वहाँ पहुँचे तो देखा कि संजीव बैग लिए खड़ा है। उन्होंने अपनी जेब टटोलकर चाभी निकाली। संजीव ने चाभी उनके हाथ से ले ली, क्योंकि वह जानता था कि उन्हें चाभी की होल में घुमाने में समय लगेगा। उन्हें डबल लॉक वाले डोर खोलने की आदत नहीं थी। दरवाजा खोलकर संजीव ने अपना बैग सोफे पर डाला और बैठ गया। रवींद्र बाबू ममता-भरी आँखों से उसे देखते हुए सोच रहे थे कि बेचारे बच्चे बारह-बारह घंटे बहुराष्ट्रीय कंपनियों में खटते हैं, तब जाकर एक मोटी पगार घर में आती है। इन्हीं रुपयों से सब कुछ होता है, नहीं तो शहर में एक कोठरी भी न हो पाए।

उन्होंने पूछा, "चाय पियोगे? बना दूँ?"

संजीव ने कहा, "नहीं, कॉफी पीकर आया हूँ ऑफिस से। और आपसे मैं चाय बनवाकर पियूँगा?" फिर थोड़ी देर बाद बोला, "सुरुचि अब आती ही होगी, वह तो बनाएगी ही।"

करीब घंटे-भर बाद सुरुचि आई। वह भी संजीव की तरह ही थकी हुई थी। आते ही अपने कमरे से लगे वाश-रूम में हाथ-मुँह धोने वाली चली गई। फिर चाय बनाकर एक-एक कप संजीव और रवींद्र बाबू के सामने रख दी और अपना कप हाथ में लेकर टीवी धीमी आवाज में खोलकर बैठ गई। संजीव लैपटॉप पर व्यस्त हो गया।

रवींद्र बाबू ने टोका, "अब तुम्हें ऑफिस में कम काम था कि यहाँ आकर भी लैपटॉप में सिर खपाने लगे?"

संजीव ने कहा, "पापा! आप नहीं समझिएगा। इससे कितनी सारे बातें हल हो जाती हैं। सारा काम ही हो जाता है इससे।"

यह सुनकर रवींद्र बाबू कुछ प्रशंसा और अचरज-भरी दृष्टि से उसे देखने लगे। सुरुचि को शायद टीवी के प्रोग्राम अच्छे नहीं लग रहे थे। वह अपने कमरे में उठकर चली गई।

यही दृश्य हर शाम का हुआ करता था और सवेरे का बिल्कुल इससे उल्टा। नौ बजते-बजते संजीव और सुरुचि दोनों ही ऑफिस के लिए निकल जाते थे। तब घर में वे ही अकेले बच जाते। पिंजरे में बंद मैना की तरह छटपटाने लगते। कभी पेपर पढ़ते, कभी कोई पत्रिका उलटते तो कभी टीवी ऑन करते। इन सबसे जब ऊबते तो सो जाते। यहाँ किसी से उनकी जान-पहचान न थी, न अपना कोई दोस्त ही था कि उसके यहाँ बैठकर कुछ वक्त गुजार लेते।

उन्हें अपने बेटे के पास आए हुए एक महीना हो गया था। एक नई दिनचर्या से उन्हें गुजरना पड़ रहा था। ऐसा न था कि वे कभी अपना घर-शहर छोड़कर बाहर नहीं रहे। जब तक नौकरी में रहे, कई जगहों पर गए, कितने तरह के लोगों और उनकी संस्कृतियों से मिलना-जुलना हुआ। पर तब की बात और थी। एक पूरा परिवार था - पत्नी, छोटे-छोटे बच्चे। दफ्तर से आते तो अपने को सबसे घिरा हुआ पाते। चारों ओर चहल-पहल का माहौल। अब वह बात न थी। अब उनकी पत्नी गुजर चुकी थी और साथ-साथ एक लंबा वक्त भी। सदा बदलती रहने वाली दुनिया ने इतना बदल दिया था उनकी जिंदगी को!

पहली बार जब वे इस महानगर में आए थे उन्हें अजीब लगा था कि यहाँ तो सारे दिन दरवाजा बंद रहता है। कई-कई घंटे एकांत में बताते हुए वे एक इनसान का चेहरा देखने को तरस जाते। जिस रात को वे आए उसके सवेरे आपस में कुछ बातचीत भी न हुई और बेटा-बहू दफ्तर चले गए तो वे बेचैन होने लगे कि तभी दरवाजे की घंटी बजी। वे खुश हुए कि चलो कोई आया। शायद पड़ोसी हो। पर पड़ोसी क्या दूसरे लोक में रहते थे? उनके फ्लैट भी दिन-दिन भर बंद रहते। शाम को मियाँ-बीवी थके-माँदे लौटते तो बंद घर खुलता। उन्हें यह सब नहीं मालूम था। तभी सोच बैठे कि पड़ोसी आया होगा। खुश होकर दरवाजा खोला था उन्होंने। सामने खड़ा था नेपाली रसोइया। उन्हें याद आया कि जाते-जाते सुरुचि बोल गई थी, "पापाजी, नेपाली खाना बनाने आएगा। जो मर्जी हो बनवा लीजिएगा। वह चाय-कॉफी भी बना देगा।"

नेपाली को देखकर वे मुस्कुरा उठे। बोले, "तो तुम प्रीतम हो?"

"हाँ साब।" उसने कहा था।

"ठीक है, आओ। मुझे सुरुचि ने तुम्हारे बारे में बताया था।"

"आप भैया के पापा हो न?"

"हाँ।"

"मुझे मालूम है। भाभी जी बोला था कि आप आएगा।"

वह पूरे अधिकार के साथ भीतर चला आया। उनकी ओर घूमकर बोला, "क्या खाओगे आप?"

"जो रोज बनाते हो, वही बना दो।" रवींद्र बाबू बोले।

इतना सुनते ही वह अपने काम में मशगूल हो गया। वे पास ही सोफे पर बैठे हुए सिंक से पानी निकलने की आवाज, कढ़ाई में सब्जी छौंके जाने की छनक, प्रेशर कुकर की सीटी, कढ़ाई और छलनी की आपसी ठनर-मनर सुनते रहे। मुश्किल से बीस मिनट बीते होंगे कि नेपाली ने सारा खाना तैयार करके टेबुल पर लगा दिया। उसके बाद बाहर जाते हुए बोला, "दरवाजा बंद कर लो साब।"

रवींद्र बाबू उसके काम की तेजी को देखकर अवाक हो गए थे। भला इतनी जल्दी खाना कैसे बन गया? वे जितना चकराए उतना ही उदास भी हुए उसे बाहर निकलते देखकर। वह सिटकिनी खोलकर चला गया था और वे पीछे उसकी पीठ निहारते रह गए थे। वाह! आया भी और चला भी गया। क्या बनाया होगा उसने? डायनिंग टेबल पर लगे कैसरोल्स को उन्होंने खोल-खोलकर देखा था। पूरा उत्तर भारतीय खाना था। एक भी आइटम कम नहीं। चावल, दाल, सब्जी के साथ सलाद और चटनी तक बनाकर रख दी थी उसने! रसोइया को आया देखकर उनके मन में एक छिपी आशा जगी थी कि उन दोनों के बीच थोड़ी बातचीत होगी। कुछ वह पूछेगा, कुछ ये पूछेंगे। पर ऐसा कुछ भी नहीं हुआ, धत...!

धीरे-धीरे उस महानगर में रहते हुए रवींद्र बाबू ने सीख लिया था कि कैसे समय बिताया जाए। वे अपने मित्रों को कॉल करते और देर तक मोबाइल पर बातें करते रहते। जब तक बातें होती रहतीं, उन्हें लगता कि वे एक चलती-फिरती, जीती-जागती दुनिया से जुड़े हुए हैं, वरना इस शहर के अनजाने चेहरों के समुद्र में एक भी पहचाना

चेहरा उन्हें नजर नहीं आता था। तब उनकी मनःस्थिति एक भटके हुए जहाज की हो जाती। कहाँ जाएँ... क्या करें... सब कुछ अपरिचित... अटूट एकाकीपन।

अकेले रेल या बस में सफर करना उन्हें कभी बुरा नहीं लगा था, बल्कि कभी-कभी तो उन्होंने इसे एन्जॉय भी किया था। एकदम भीड़-भाड़ से मुक्त। परंतु अपना विधुर जीवन जीते हुए उन्हें लगता था कि जिंदगी का एकाकी सफर रेल या बस का सफर नहीं है जो इसका लुत्फ उठा लिया जाए। इसे जो जीता है वही समझता है। जीवन संगिनी को गुजरे एक अरसा हो गया था। पत्नी की जरूरत जितनी पहले थी, उससे कम आज नहीं थी। बल्कि उन्हें लगता था कि अभी उसका होना अधिक जरूरी था। अब उनकी जिंदगी क्या थी? एक सूखे पत्ते की तरह उड़कर वे यहाँ से वहाँ चले जाते थे - जिधर हवा ले गई, उधर ही उड़ गए। अपना कोई वजूद ही नहीं रह गया था।

वे यहाँ पर अपने परिचित बनाने की कोशिश करने लगे थे। शुरू-शुरू में सिक्योरिटी गार्ड, दुकानदार और सब्जीवालों से ही कुछ जरूरत से अधिक बातें करने लगे थे ताकि वे इन्हें पहचानें। जाते-जाते दोस्ताना नजरों से उन्हें देखते। धीरे-धीरे आस-पास के लोग इन्हें जानने लगे थे। इन्हें अच्छा लगता था जब कोई आँखों में पहचान लिए इनकी ओर देखता और इनका हाल-चाल पूछ लेता। घर में सब्जी लाने का काम इन्होंने अपने जिम्मे ले लिया था कि इसी बहाने लोगों से कुछ बात भी हो जाएगी। बातचीत करके थोड़ा प्रफुल्लित महसूस करते थे।

फिर भी पूरे दिन की लंबाई में पसरा हुआ समय नहीं कटता था। खाना बन जाता था, कपड़े धुल जाते थे। काम खत्म है। खाना लगा हुआ है, वे खाएँ या न खाएँ। निपट अकेले रहते हुए खाने की इच्छा भी दब जाती थी। कुछ-कुछ करके समय को टुकड़ों-टुकड़ों में काटने की कोशिश जी-जान से जारी रहती। फ्लैट के पूरब में आंजनेय का मंदिर था। कभी-कभी उधर निकल जाते। उत्तर की ओर बड़ा सुंदर गणेश मंदिर था। शाम को टहलते हुए किसी दिन उधर भी निकल जाते। दर्शन करके बाहर आते तो वहीं प्रांगण में बेंच पर शांति के साथ बैठकर समय बिताते। इतना करने के बाद भी समय बिताना मुश्किल था खासकर दिन का। तो उन्होंने सोचा कि ठीक है, अब वे ही बाल्कनी में रखे गमलों में पानी डाल दिया करेंगे। कुछ समय इसमें भी कटेगा।

यही सोचकर उन्होंने सुरुचि से एक दिन कहा था, "बेटा, इन गमलों को मैं ही सींच दिया करूँगा। जब तक मैं हूँ तब तक तुम बाई को मना कर दो।"

सुरुचि बोली थी, "पापा जी! आप सींचेंगे तो बाई की आदत खराब हो जाएगी। गमले सींचना उसका काम है।"

यह सुनकर रवींद्र बाबू चुप हो गए थे। ठीक ही तो कह रही थी वह। अब दो दिनों के लिए बाई की आदत क्यों खराब कर जाएँ?

उस दिन बेटा-बहू के दफ्तर जाने के बाद उन्होंने अखबार उठा लिया था। अखबार की एक-एक खबर पर नजर दौड़ाने लगे। रोज की वे ही सारी बातें। राजनीतिक उथल-पुथल, अपराध - उसमें भी बलात्कार। मन चिड़चिड़ा गया। एक भी खबर ऐसी नहीं थी कि मन खुश हो। उन्होंने अखबार एक ओर रख दिया था। पत्रिकाएँ तो पहले ही पढ़ी जा चुकी थीं। अकेले बैठकर सोचने लगे कि क्या किया जाए?

तभी कमरे के बाहर लगे गमलों की ओर उनका ध्यान गया। उनमें रोपे गए पौधों को देखकर वे सोचने लगे कि इन्हें देखकर तो पता ही नहीं चलता कि क्या मौसम है? सभी मौसमों में एक-सा ही रहते हैं। क्या जाड़ा, क्या गरमी और क्या बरसात? वे उठकर फूलों को निहारने लगे थे। तभी वे चौंके। नहीं, उनका सोचना सही नहीं था। अभी वसंत है और कुछ पौधों में सुआपंखी कोंपलें फूट रही हैं। यह देखकर अपने अकेलेपन में भी वे मुस्कुराने लगे। गौर से देखने के लिए अपना चश्मा ठीक कर वे पौधों पर झुक गए। वाह! कुदरत का करिश्मा! फूलों को सब पता है। उन्हें मालूम है कि वसंत आ रहा है। इस महानगर को मालूम हो न हो काम और जाम को फर्क पड़े या न पड़े! ये अपनी मौन आवाज में कह रहे हैं कुछ। इनकी सुनता भी कौन है? वे उन पौधों से बात करने लगे।

बोले, "तुम बोल रहे हो, मैं सुन रहा हूँ। मुझे भी मालूम है मेरे दोस्त कि वसंत आ गया है।"

अचानक उन्हें लगा जैसे कितने सारे नन्हें-मुन्नों से घिरे हुए हैं वे! उनके इर्द-गिर्द कितने सारे छोटे-छोटे बच्चे हैं। उनकी बाँहें हैं... बाँहें नहीं - पंख हैं... हरे-हरे पंख। वे सब ढूँढ़ रहे हैं आकाश, हवा और उजाला। वे अपने को तितली-जैसा हल्का महसूस करने लगे। कितनी हल्की हो गई थी उनकी साँसें? उन्होंने चारों ओर नजर घुमाई। हवा और आकाश को काटती हुई ऊँची-ऊँची बिल्डिंगें थीं, पर इस बाल्कनी में थोड़ा आकाश था, उसका खुलापन था, थोड़ा जीवन था... थोड़ी ताजगी... थोड़ी संजीवनी! हाँ, अब यही बैठेंगे वे, हवा और आकाश से बातें करते हुए। यहीं से दुनिया भी दिखती हैं, लोग भी दिखते हैं। अब रोज उनके बैठने की प्रिय जगह वही बाल्कनी हो गई थी। वे रोज ध्यान से एक-एक पौधे को देखते। पौधों में निकले अँखुए हर दिन थोड़ा बढ़े हुए लगते। एक सरसों के बराबर उगा अँकुर छोटी-छोटी पत्तियों में खुलने लगा था। देखते-ही-देखते कितनी ही धानी पत्तियाँ निकल आई थीं। पौधे झबरीले हो उठे थे।

उस दिन वे शाम को सब्जी लेकर लौटे तो मन न होते हुए भी टीवी खोल दी। अचानक उन्हें अपने जबड़ों में दर्द महसूस हुआ। फिर यह टीसता चला गया और इतना बढ़ा कि दवा की जरूरत महसूस होने लगी। फोन करके संजीव को कहना चाहा कि लौटते हुए वह दवा लेता आए, पर उसे आने में अभी देर थी। दाँत का दर्द इस तरह बर्दाश्त से बाहर हो चला कि संजीव के आने तक वे इंतजार नहीं कर सकते थे। इस स्थिति में भी उन्हें ही दवा के लिए निकलना पड़ेगा। किसको कहते? घर में था कौन?

अतः वे दवा लाने चल दिए। दवा की दुकान नजदीक ही थी। शाम की स्याही घिरने लगी थी। सड़क पर वाहनों की आवा-जाही बनी हुई थी। किनारे चलने वाले पदयात्रियों की भी कमी नहीं थी। इसी भीड़ में रवींद्र बाबू खीझे हुए चल रहे थे। कभी-कभी उनका हाथ अपने दुखते हुए जबड़े पर चला जाता। दर्द और भीड़ ने उन्हें इस तरह जकड़ लिया था कि उन्हें लगने लगा कि न जाने किस दुनिया में वे आ गए हैं। गाड़ियों की हेडलाइट से आँखें चौंधिया जा रही थीं। वे सड़क पार करने के लिए एक ओर खड़े थे। तभी एक स्कूटर उन्हें मारती हुई निकल गई। इसके बाद की बात उन्हें नहीं मालूम।

आँखें खुलीं तो वे अस्पताल के बेड पर थे। बगल में खड़ी नर्स इंजेक्शन देने की तैयारी कर रही थी और संजीव पास में था। उन्हें होश में आया देख उसने पूछा, "कैसे हैं पापा?"

"पैरों में बहुत दर्द है और दाँत में भी। क्या हुआ है मुझे?" उन्होंने कराहते हुए कहा।

संजीव बोला, "आपको स्कूटर से धक्का लग गया था।"

"हाँ... अभी याद आ रहा है। मैं दवा लाने निकला था, क्योंकि दाँत में बहुत दर्द हो रहा था। एक स्कूटर मुझे मारते हुए निकल गई थी। ...फिर पता नहीं क्या हुआ। मैं गिर गया था।"

"आप स्कूटर के धक्के से गिरकर बेहोश हो गए थे। यह तो अच्छा हुआ कि वहाँ कुछ लोगों ने आपको पहचान लिया और आकर सिक्युरिटी गार्ड से कहा। उसी ने मुझे खबर की।"

रवींद्र बाबू सुनकर चुप रहे। उन्हें अब वह दुर्घटना याद आने लगी थी।

संजीव ने कहा, "पापा! आपने दवा के लिए मुझे फोन कर दिया होता। आप स्वयं क्यों निकल गए?"

रवींद्र बाबू ने कराहते हुए कहा, "दर्द इतना था कि मैं तुम्हारे आने तक इंतजार नहीं कर सकता था।"

संजीव बोला, "खुशकिस्मती से आप बच गए पापा! आपको कुछ हो जाता तो?"

अभी रवींद्र बाबू भी यही सोच रहे थे कि वे भाग्य से बच गए। उनके पैरों की हड्डियाँ भी सही-सलामत थीं। वे डर गए यह सोचकर कि अपाहिज भी हो जा सकते थे। तब उन्हें कौन देखता?

अस्पताल से आने के बाद उन्होंने संजीव के यहाँ कुछ दिन और बिताए। अब वे सवेरे सैर के लिए उस समय जाते जब सड़क पर वाहन नहीं रहते थे। दुर्घटना के डर से बाहर न निकलते, यह भी संभव न था। इसीलिए वाहनों से बचते हुए वे फ्लैट से निकलकर स्नैक्स वाली दुकान से होते हुए अगले दोराहे तक जाते। फिर उस मुख्य सड़क को पकड़ते जिस पर बहुत कम गाड़ियाँ चलती थीं, साथ ही वह चौड़ी भी थी। वे सड़क की दोनों ओर लगे पेड़ों को पहचानते हुए जाते - यह शिरीष है, यह गुलमोहर, यह अमलताश, यह लैगनटेशिया और यह न जाने क्या? इस तरह वे एक अजीब आनंद से भर जाते। वे सोचने लगते कि यदि ये पेड़ न होते तो न जाने दुनिया कैसी लगती? धरती कैसी दिखती? शायद केशरहित स्त्री की तरह कुरुप।

एक दिन कुछ झिझकते हुए संजीव से बोले, "बेटा! अब मैं वापस जाना चाहता हूँ। काफी दिन हो गए यहाँ पर रहते हुए।"

संजीव ने कहा, "क्यों? कुछ समय और रहिए न हमारे साथ? क्या तकलीफ है आपको यहाँ पर?"

"तकलीफ तो कुछ भी नहीं, तुम लोग इतना ध्यान रखते हो मेरा! फिर भी...। बहुत दिन हो गए बाहर निकले हुए। अब जाऊँगा। ठीक है, अगले सप्ताह के लिए टिकट करा दो।"

हवाई अड्डे पर रवींद्र बाबू अपनी ट्रॉली लुढ़काते हुए निकल रहे थे तो एक परिचित चेहरा सामने की भीड़ में खड़ा इनका इंतजार कर रहा था। ड्राइवर असलम ने मुस्कुराते हुए आगे बढ़कर इनके हाथ से ट्रॉली ले ली। कार पर बैठते ही उन्होंने अपने सर को पिछली सीट से टिका दिया था। कार पूरी रफ्तार से अपनी मंजिल की ओर बढ़ी जा रही थी। उन्होंने अपनी आँखें बंद कर लीं। कार शहर से गुजरती हुई अपने गंतव्य की ओर मुड़ गई जो ढाई घंटे की दूरी पर स्थित था। सड़क के दाएँ-बाएँ धूल में नहाए

पेड़-पौधे खड़े थे। महुआ की महक समेटे हुए खुली हवा आई और प्राणों में उतर गई। घर के कमरे में दाखिल होते ही सन्नाटे ने उनके लिए बाँहें फैला दीं। उन्होंने सन्नाटे को आलिंगन में भर लिया। आगोश से छूटकर सन्नाटे ने कहा, "मैंने तुम्हें बहुत मिस किया, रवींद्र!"

रवींद्र बाबू ने कहा, "मैंने भी तुम्हें बहुत मिस किया।"

—X—